समकालीन कविता में आदिवासी स्वर

– डां. पि.हरि रामप्रसाद
– **PITHAPUR RAJAHS GOVERNMENT COLLEGE AUTONOMOUS KAKINADA**

इक्कीसवीं शती के वैश्वीकरण और आधुनिकीकरण की रोशनी ने आदिवासी साहित्य की जरूरत और संभावना को अभूतपूर्व विस्तार दिया प्रख्यात विद्वान मैनेजर पाण्डेय के अनुसार, 'बहुत बड़े भूभाग में जो लोग मुख्य धारा तथाकथित मुख्य धारा से अलग रहते हैं, जो अपनी जिन्दगी मध्यकालीन और आधुनिक सामाजिक प्रक्रिया से नहीं चलाते है, उन्ही लोगों को आदिवासी कहा जाता है। (वर्तमान साहित्य– अप्रैल 2009) 'विश्व के प्राय: सभी समाजों में मनुष्य के आदि– पूर्वज आदिवासी ही थे। ऐतिहासिक सत्य यह है कि, हर समाज के आदिवासी समुदाय एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर विचरण करते थे, अतः वे सुसंस्कृत समाज से हटकर अलग – अलग होते गये।

आर्य संस्कृति का इतिहास अनार्यों पर आक्रमण, प्रतिरोध और संघर्ष से शुरू होता है। प्रकृति के प्रति उनका विशेष आकर्षण है। वे कपट और कूटनीति से दूर ' जिसकी लाठी उसकी भैंस ' पर अपराजेय विश्वास रखते थे। पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ' अशोक के फूल ' में स्पष्ट किया है, कि ' जो गर्वीली थीं, हार मानने को प्रस्तुत नहीं थी, परवर्ती साहित्य में उनका स्मरण घृणा के साथ किया गया, और जो सहज ही मित्र बन गई, ' बुद्धिर्यस्य बलं तस्य ' के न्याय में वे अवश्य पराजित और प्रताड़ित हुए होंगे, समग्र आर्य–संस्कृति में जंगल या तपोवन की अहम् भूमिका रहीं, प्रकृति के साथ विचरण करनेवाले मुनि–ऋषियों की शाश्वत उपलब्धि ही भारतीय संस्कृति की तपोनिधि रही, मजबूरन नहीं, प्रकृति के प्रति तीव्र आकर्षण ने आदिवासियों को उस ओर खींच लिया, असम से केरल तक के आदिवासी अनेक उपजातियों में बाँटे हुए जिनमें प्रायः एकरूपता नहीं है। राष्ट्रीय स्तर पर प्राइवेटाइजेशन और वैश्विक स्तर पर ग्लोबलाइजेशन से समग्र विश्व भयंकर विरोधाभास में फँस गया है, संसार भर के आदिवासी इन सिद्धांतों के शिकार है। जल–जंगल जमीन और जानवरों के बीच. सानन्द और सहर्ष विचरण करनेवाले आदिवासियों की समस्या आज उभर आयीहै, जिस ओर सरकार, समाज या सम्प्रदायों की दृष्टि स्वार्थ जनित या पूर्वाग्रह ग्रसित रही। जमीन का पट्टा नहीं मिलना, विस्थापन समस्या का हल नहीं हो पाना या बंजारों की जिन्दगी जीने के लिए विवश होना मामूली बात बन गयी है। लेकिन यह सिर्फ आदिवासियों का ही नहीं गरीब सवर्णों का भी है, ये आम आदमी भी क्रूर–कठोर 'दासत्व'की बात कहते है, लेकिन इन आम आदमियों में आदिवासी समुदाय की रूढ़ी परंपरा और स्व–संस्कृति के प्रति प्रेम और संरक्षण की तीव्र भावना नहीं है, 'आदिवासी–विमर्श', आदिवासियों के जागरण का शंखनाद है, जिसकी गूंज महाराष्ट्र से शुरू हुई है– 'कबीर सूता क्या करे उठी न रोवे दुःख 'आज यह समुदाय चरितार्थ होने जा रहा है।

आदिवासी साहित्य का स्वरूप :

अपनी अस्मिता का पोषण और संस्कृति की स्थापना हर साहित्य का ध्येय रहा। 'नीलाकाश की छत, उन्मुक- विस्तृत बन प्रान्त की हरीतिमा, झरनों का कल कल नाद और पशु-पक्षियों की ध्वनियों से निनादित मुक्त परिसर में आदिवासी सदियों से जीता

चला आ रहा है। उनकी जीवन-शैली में लाक्षणिक अन्तर, सांस्कृतिक भिन्नता, एकाकीपण का दंश तथा अनुभूति के निरालेपन ने उनके जीवन को अनेक कलाओं से युक्त किया, 'आजादी-गुलामी, शोषण-वेदना में भी उसका वैशिष्ट्य और परम्परा बरकरार रही। कला उनकी आदत है, गीत से वे समृद्ध होते है, और नृत्य से अनुशासित। अक्षर से वंचित हो कर भी अपनी कल्पना और यथार्थ, संवेदना और प्रेम, पीड़ा और आनन्द, संकल्प और संगठन का रूप लेकर दूसरी की भाषा में लिपिबद्ध करने की प्राचीन परम्परा उपलब्ध रही। आदिवासी साहित्य के लिखित रूप में शिक्षित-सचेत लेखनी से ' आदिवासीपन ' उभरता है, समृद्ध लोक परम्परा का अलिखित साहित्य उनके जीवन्त जीवन की निशानी है। भगवान की महनीयता को दर्शाने के लिए, मनोरंजन के लिए या फिर सहानुभूति की दृष्टि से आदिवासी की जीवन गाथा पारम्परिक साहित्य में लिपिबद्ध है। उत्कल की जगन्नाथ संस्कृति का उत्सव जारा शबर ही है। गोपीनाथ महन्त ने (1946 ई) में ' परजा ' उपन्यास में अवहेलित, अवलुप्त चिर रहस्यमय, कोरापुट की परजा जनजाति की उल्लास-आवेगमयी अनुभृति का जीवनालेख्य प्रस्तुत किया है, जो संभवतः भारतीय साहित्य का प्रथम प्रयास रहा(भारतीय ज्ञानपीठ ने उसके हिन्दी अनुसृजन को प्रकाशित किया है)उनके द्वारा रचित अमृत संतान अनपहुंच जैसे उपनस्य भी इसी श्रेणी में आते है । महास्वेता देवी या प्रतिभा राय (आदि भूमि) जैसे उपन्यासकारों की गहरी जानकारी, विषय के प्रति समर्पण भाव ने आदिवासी जीवन के संघर्ष की वास्तविक झाँकी प्रस्तुत की। सहानुभूति स्वतः स्वानुभूति बन गयी है। सत्यता और प्रामाणिकता के आधार पर ये साहित्य भी उनके दुःख-दर्द का अभिलेख बन गया है।

21वीं सदी के प्रथम दशक की हिन्दी कविता आदिवासी समाज में आ रहे इन बदलावों को सूक्ष्म एवं यथार्थ के धरातल पर चित्रित करती है। आजादी के बाद हमने पश्चिमी सभ्यता की तर्ज पर विकास का केंद्रीकृत नेहरूवादी मॉडल अपनाया, जिसमें कुछ खास जगहों को तवज्जो देकर बाकी अधिकांश जगहों के प्रति उपेक्षा का रवैया अपनाया। आदिवासियों के सुदूर एवं दुर्गम बस्तियों की ओर तो आज भी आधुनिकता का प्रकाश नहीं पहुँच पा रहा है। यदि पहुँच भी गया तो महज प्रचुर खनिज-संसाधनों के लोभ में उनके अस्तित्व को रौंदने व कुचलने के लिए। यह सारा कुचक्र वर्षों से उन्हें सभ्य एवं मुख्यधारा में शामिल करने के नाम पर हो रहा है। आदिवासियों के खिलाफ हो रहे इस सारे षड्यंत्र को समकालीन कविता अपना विषय ही नहीं बनाती बल्कि उनके खिलाफ प्रतिपक्ष की सुदृढ़ जमीन भी तैयार करती है -

"ओ रे
मानवता के आदिम नुमाइंदों,
तुम जंगली ढोर, गँवार हो
एक सलाह है तुम्हें सभ्य बनाने की

'पुश्तैनी ऊबड़-खाबड़ धरा से हटाकर
रोपना होगा
मुख्य धारा की उर्वरा भूमि पर '
इस सलाह का मतलब क्या है

तुम अभी नहीं जानते
मैं सिर्फ इतना जानता हूँ कि
खुशहाली के फूलों की जगह
मुझे नजर आते हैं।
फुटपाथी डेरे, झोपड़पट्टी
कचरे के ढेर पर आँखे गड़ाए मासूम बच्चे
प्रौढ़ होता यौवन
बूढ़ा होता प्रौढ़पन
भूख व बीमारी से खोखला
वक्त से पहले चुपचाप खत्म होता जीवन।
और वहाँ
तुमसे छूटी पुश्तैनी भौम पर
कँटीले तारों की पहरेदारी में नारियल के बागान
लहलहाते चावल के खेत
इमारती लकड़ी की मंडियाँ, कागज की मिलें
और आलिशान कोठियाँ
कोठियों में बहुत कुछ... जिसे तुम नहीं जान सकते।
तय तुम्हें करना है-
वही अड़े रहोगे या सभ्य बनोगे ?

ठेकेदार, सत्ता एवं औद्योगीक तंत्र का मजबूत गठजोड़ आदिवासी को अपनी ही जड़ों से बेदखल कर उन्हें विस्थापन के लिए मजबूर करते हैं। आजाद भारत की आदिवासी जमात आज लगातार अपने हो जमीन से विस्थापित होकर शहरी मजदूर बनने की अभिशप्त नियति से जुड़ने को मजबूर है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः लोक कल्याणकारी राज्य ने विकास के जो मानक बनाए हैं, वे आदिवासियों के हितों के अनुकूल नहीं है। एक ओर राज्य अपनी जिम्मेदारी आदिम जाति के प्रति लेने से कतरा रहा है, वहीं दूसरी ओर प्राकृतिक संसाधनों पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रति राष्ट्र एवं राज्य की सरकारें सहयोगपरक रवैया अपना रही है। पुनर्वास के नाम पर विस्थापित आदिवासी वर्तमान में ' स्लम 'में नारकीय जीवन व्यतीत करने को बाध्य हो रहे है। अरुंधती राय अपनी पुस्तक 'The great common goods (बहुजन हिताय) में विस्थापित लोगों के त्रासद् एवं अफसोसजनक तथ्यों को सामने लाती है। ' अरावली उद्घोष ' पत्रिका के ' आदिवासी कविता अंक ' में डॉ. सुरेन्द्र कुमार नायक की कविता ' उलीहातू ' इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है-
"अपने ही बीच

कुकुरमुत्ते से उग आये
दलालों के दमन चक्र
विकास का बहाना
हीराकुण्ड से लेकर

सिंगुर, नंदीग्राम, भिलाई तक
हमारी जमीन, हमारे जंगल
हड़पते
हमारे तथाकथित रक्षक ।"
आये दिन लगातार प्रमुख एवं स्थानीय समाचार पत्रों में आदिवासी के बेदखल करते स्थानीय लुटेरे से लेकर बहुराष्ट्रीय कंपनी के कुचक्र की घटना हम समाचार में पढ़ते हैं, लेकिन वह सिर्फ एक घटनात्मक तथ्य के रूप में धीरेधीरे नेपथ्य में चली जाती है। पास्को जैसी बहुराष्ट्रीय कंपनी को न्यायालय ने जमीन अधिग्रहण के मामले में अनुबंध को समाप्त कर दिया है, इस कंपनी की काली हरकतों का उल्लेख हाल ही में चर्चित उपन्यास ' ग्लोबल गाँव के देवता 'में भी हुआ है।

आदिवासियों को अपने अस्तित्व एवं पहचान कायम रखने हेतु मजबूरन सत्ता एवं औद्योगिक प्रतिष्ठानों के खिलाफ प्रतिरोध दर्ज करना पड़ता है। वे जब अपने हक की लड़ाई के लिए हिंसक कदम उठाते हैं, उन्हें ' नक्सलवादी,'' अलगाववादी ' कहकर मौत के श्मशान में तब्दील कर दिया जाता है। हाल ही में दांतेवाड़ा, लालगढ़, गुवाहाटी, उड़िसा आदि जगहों में घटी हिंसक घटनाएँ इसी मनोवृत्ति की परिचायक है। अरुंधति राय ने ' आउटलुक ' के अपने बेहद चर्चित लेख में सरकार द्वारा प्रायोजित ' ऑपरेशन ग्रीन हंट ' के सत्य को तत्ख रूप में उजागर ते हुए लिखती हैं– " आज एक बार फिर छत्तीसगढ़, झारखंड, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल के खनिज संपन्न जंगलों में बगावत फैल गयी है जो हिन्दुस्तान के लाखों आदिवासी और जन–जातिय लोगों का बसेरा है और कॉरपोरेट जगत का स्वप्नलोक।महादेव टोप्पो की कविता ' त्रासदी ' इस सवाल को जीवित ढंग से उठाती है –
"इस देश में पैदा होने का
मतलब है –
आदमी का जातियों में बांटा जाना
और गलती से तुम अगर हो गए पैदा
जंगल में
तो तुम कहलाओगे
आदिवासी वनवासी गिरिजन
वगैरह वगैरह
मगर वे मनुष्य नहीं कहेंगे
सबसे बड़ी त्रासदी तो यह कि
तुम्हें आदिवासी वनवासी गिरिजन
सब कुछ कह लेंगे
लेकिन कहेंगे नहीं

कभी तुम्हें इस देश का वासी
वैसे कहने को तो वे
तुम्हें इस देश का आरक्षित नागरिक भी कह लेंगे
लेकिन यह कितनी बड़ी

\विडंबना है
कितना बड़ा विरोधाभास
कि जब तुम इस देश के
नागरिक होने के नाते
मांगोगे अपना हक
कहलाओगे फिर तुम ही
अलगाववादी !''

जब कोई भी बुद्धिजीवी या सामाजिक कार्यकर्ता नक्सली आदिवासियों के समर्थन में अपनी बात रखते हैं तो सत्ता उन्हें अपना दुश्मन समझती है। अरुंधति राय और डॉ. विनायक सेन इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। अब तो बकायदा संसद में भी प्रस्ताव पारित कर दिया गया है कि नक्सली गतिविधियों के समर्थन में भागीदार लोगों के खिलाफ कार्रवाई की जाएगी।

21 वीं सदी के प्रथम दशक के आदिवासी कवि मनुष्य को उपभोक्ता- संस्कृति की क्रूर हरकतों के प्रति भी सावधान करते है। दरअसल यह संस्कृति मनुष्य की समृद्ध संस्कृति को निगलकर बिकाऊ एकरूपता में तब्दील कर देती है। आदिवासी मनुष्य की कीमत इनकी नजरों में जानवरों से भी बदतर है। इसे रेखांकित करती है शंकरलाल मीणा की कविता 'परदेशी सौदागर चार'-

"सौदागर हर बीमारी की
दवाई बेचता है
इस दवाई से भी जो बीमारी होती है।
उसकी भी दवाई बेचता है
इसके बाद भी कुछ हो
तो उसके लिए शोध जारी है।
प्रयोगशालाओं में
उन भेड़ और बंदरों पर
जो मंगवाए गए हैं हमारे यहाँ से
सौदागर का ख्याल है
जो इनको माफिक आएगा
वह हमको भी आएगा।"

वर्तमान समय में मनुष्य का सर्वाधिक चिंता पर्यावरण संकट की है। सुनामी का कहर हो, मुम्बई में बाढ़ या हाल ही में बादल फटने से लेह में कई लोगों की मृत्यु, अनावृष्टि, हमने खुद प्रकृति को नोंचकर यह संकट पैदा किया है
(संथाल परगना की एक पहाड़ी नदी की व्यथा-कथा)

"नदी माँ, तुम्हारी ममता में
बदत्तर ऋतुओं को जिया है मैंने
देखता हूँ
मैली हो रही हो तुम।

अपनी छायाओं में फली फूली
आदिम सभ्यता के मनोहर चित्र
रेत के बवंडरों से पाटती हुई
लोक–कथाओं में तुम स्वयं एक दिन
किंवदन्ती बनकर दर्ज हो जाओगी। "

प्रकृति से छेड़छाड़ इस कदर बढ़ गयी है कि हाल ही में यह शोध के द्वारा उजागर हुआ कि अण्डमान और निकोबार के आदिवासी आनेवाले पर्यटकों की करतूतों से असहज महसूस करते हैं, जिसकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। साथ ही आदिवासी क्षेत्रों में औद्योगिक प्रदूषण के कारण उन्हें कई विचित्र बीमारियों का भी बेवजह सामना करना पड़ रहा है।

भारतीय लोक परंपरा के अनुसार आदिवासियों का प्रकृति से रागात्मक संबंध जगजाहिर है जबकि पश्चिम में विकास का अर्थ ही है प्रकृति पर विजय आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि, "आज भी अंडमान के जाटवा और सेंटेनली जनजाति प्रकृति के हिसाब से जीते हैं। जैसे हिरन कम हैं तो कहते हैं उसे नहीं मारना है। हिरन में मृत आत्माओं का वास होता है। सुअर ज्यादा हैं तो उसे खाते हैं। नीले रंग की स्टार फिश कम है तो उसमें माँ परी का रूप देखते हैं और नहीं खाते हैं। प्रकृति के सगे हैं ये यह भी आदिवासी समाज से सीखा जा सकता है। " लेकिन हम सीखने की बजाय उनका प्रदर्शन करते हैं। यह सभ्यता के इतिहास में घटित अजीब बात है कि, जिस दिन से किसी भी जमात या व्यक्ति को अतिरिक्त पूजा भाव देना शुरू करते हैं उसी दिन से यह समझ लेना चाहिए कि, नेपथ्य में उस जमात या व्यक्ति को खत्म कर डालने की गहरी साजिश हो रही है। ' सलवा जुडूम ' हो या ' ग्रीन हंट ' का नया अभियान, आदिवासियों को पूजते हुए खत्म करने की नित्य नई साजिश हो रही है। अकारण नहीं है कि अरिवन्दम सेन ने अपनी पुस्तक 'भारत में माओवाद, राज्य और कम्युनिस्ट आंदोलन ' में आदिवासियों के जमीन के अधिग्रहण को व्यापक नव–उपनिवेशवाद की संज्ञा दी है। इन सब बातों को देखते हुए, समझते हुए हम सब चुप हैं, यह आनेवाले क्रूर समय की प्रत्यक्ष गवाही है।

इस रूप में 21 वीं सदी के प्रथम दशक की हिंदी कविता में अभिव्यक्त आदिवासी विमर्श अपने भूगोल को व्यापकता प्रदान करते हुए आदिवासियों के दुःख–दर्द एवं आनंद को हर संभव समेटने की कोशिश कर रही है, लेकिन यह कोशिश अभी भी परिधि पर है। अब समकालीन हिंदी आलोचना एवं आलोचकों का दायित्व है कि, 21 वीं सदी के प्रथम दशक की हिंदी कविता में अभिव्यक्त आदिवासियों के रक्त–रंजित इतिहास के सच का खुलासा पाठकों के सामने एक नये सुलगते अध्याय के रूप में कर पाते हैं या नहीं।

संदर्भ :

1. हरीराम मीणा ,'अंडमानी आदिवासियों को सभ्य बनाने की सलाह ', (सुबह के इंतजार में ' काव्यसंग्रह ')पृ 41-42
2. डॉ सुरेन्द्र कुमार नायक,'उलीहातू' (आदिवासी कविता अंक , अरावली उद्घोष पत्रिका)पृ 9
3. प्रधान संपा - विनोद मेहता ,आउटलूक ,अप्रैल 2010,पृ 14
4. रमणिका गुप्ता (संपा) आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी ,पृ 50
5. वही ,पृ 35
6. हरीरम मीणा ,('सुबह के इंतजार में' काव्य संग्रह)पृ 37-38
7. निर्मला पुतुल,'नगाड़े की तरह बजते है शब्द 'पृ 8
8. अरावली उद्घोष ,आदिवासी कविता अंक ,पृ 30-31
9. रवीश कुमार ,'ब्लॉग वार्ता : आदिवासी अफसर की बात '

डां. पि.हरि रामप्रसाद ,हिन्दीविभागध्यक्ष ,पी. आर . गवर्न्मेंट कालेज ,काकीनाडा